॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

महा उपनिषद

विषय सूची

॥अथ महोपनिषत् ॥ 3

महा उपनिषद 5

प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय 5

द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय 10

तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय 29

चतुर्थोऽध्यायः चतुर्थ अध्याय 44

पंचमोऽध्यायः पांचवां अध्याय 77

षष्ठोऽध्यायः छठा अध्याय 121

शान्तिपाठ 143

॥ श्री हरि ॥

॥अथ महोपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

यन्महोपनिषद्वेद्यं चिदाकाशतया स्थितम् ।
परमाद्वैतसाम्राज्यं तद्रामब्रह्म मे गतिः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

महा उपनिषद

प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यमस्तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः । स एकाकी न रमते । ॥१-३॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है। सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आपः (जल), अग्नि एवं सोम आदि देवगण नहीं थे। ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे। ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा॥१-३॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते । तस्मिन्पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते । एका कन्या । दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजः । द्वादशोऽहङ्कारः । त्रयोदशकः प्राणः । चतुर्दश आत्मा । पञ्चदशी बुद्धिः । भूतानि पञ्च तन्मात्राणि । पञ्च महाभूतानि । स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः । तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते । संवत्सरादधिजायन्ते । ॥४-६॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्त:करण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया। उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए। जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है। इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ। उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया। (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते। (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं॥४-६॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्व्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते । बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि । तस्मादीशानो महादेवो महादेवः । ॥७॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्त:स्थ मन से ध्यान किया। अन्त:स्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई। उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्रीसम्पन्नता एवं ओंकार

सहित व्याहृतियाँ, ऋग, यजुः, साम, अथर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे। इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए॥७॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत । तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपपत् । ता इमाः प्रतता आपः । ततस्तेजो हिरण्मयमण्डलम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत । ॥८॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्त में स्थित होकर ध्यान किया। उस अन्त:स्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूंदें नि:सृत होने लगीं। वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया। उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए॥८॥

सोऽध्यात् । पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता । पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता । उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जाग्रतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता । दक्षिणाभिमुखो भूत्वा महरितिव्याहृतिरानुष्टभ छन्दोऽथर्ववेदाः सोमो देवता । ॥९॥

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया। पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भू: व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निदेव का ध्यान किया। पश्चिमाभिमुख

होकर भुव:व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुदेव का ध्यान किया। उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्व: व्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया॥९॥

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वसम्भुवम् ।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् । ॥१०॥

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया॥१०॥

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति ।
पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम् । ॥११॥

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है। ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया॥११॥

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम् ।
हृदयं चाप्यधोमुखं सन्तत्यै सीत्कराभीश्च ।
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वर्चिर्विश्वतोमुखम् ।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थिता ।
स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडिति महोपनिषत् ॥
॥१२॥

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है। उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप्त हो रही है। वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है। उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है। उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है। वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं। वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वरा भी हैं। यही महोपनिषद् है॥१२-१४॥

इति प्रथमोध्यायः ॥ १॥

॥ प्रथम अध्याय समात ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

॥ महा उपनिषद॥

द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः ।
जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान् ॥ १॥

तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान् ॥ २॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनीश्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई॥१-२॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनःषष्ठेन्द्रियस्थितेः ।
चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥ ३॥

चिदणोः परमस्यान्तः कोटिब्रह्माण्डरेणवः ।
उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात् ॥ ४॥

आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः ।
न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन ॥ ५॥

चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः ।
स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत् ॥ ६॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिद्रूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्त: में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है॥३-६॥

तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक् ।
जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥ ७॥

सर्वगः सर्वसम्बन्धो गत्यभावान्न गच्छति ।
नास्त्यसावश्रयाभावात्सद्रूपत्वादथास्ति च ॥ ८॥

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् ।
सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९॥

जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः ।
यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ॥ १०॥

निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः ।
अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः ॥ ११॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्स्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय और विज्ञानमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ॥७-११॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः ।
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ॥ १२॥

इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ ।
केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥ १३॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्रान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया॥१२-१३॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥ १४॥

संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद ॥ १५॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह

क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें॥१४-१५॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे ।
यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥ १६॥

अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते ॥ १७॥

व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः ॥ १८॥

जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात्सर्वमवाप्स्यसि ॥ १९॥

पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम् ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम् ॥ २०॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वत: नहीं जानता हूँ। अत: यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा

राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं।' हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए॥१६-२०॥

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्याससुतो राजञ्छुकोऽत्र स्थितवानिति ॥ २१॥

जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥ २२॥

ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे ।
तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः ॥ २३॥

ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे ।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्तदिनानि तम् ॥ २४॥

तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम् ॥ २५॥

ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाजह्वुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम् ॥ २६॥

केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः ।
सम्पूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः ॥ २७॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि वे वहीं पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्त:पुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्त:पुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यासपुत्र श्रीशुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्त:पुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥२१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥ २८॥

निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः ।
किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागत आह तम् ॥ २९॥

संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे ॥३०॥

यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना ।
तदेव तत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया ॥ ३१॥

स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः ।
एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥ ३२॥

भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर ।
एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥ ३३॥

मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः ॥ ३४॥

तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्रममाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा- हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक

प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वतः बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब हे महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अतः आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥२८-३५॥

श्रुणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
श्रीशुकं ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम् ॥ ३६॥

यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥ ३७॥

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ३८॥

अशेषेण परित्यागो वासनायां य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः ॥ ३९॥

ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ ४०॥

पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।
वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ ४१॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा-हे शुकदेव जी ! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है। तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है। जो वासनाओं का नि:शेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी ! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है॥३६-४१॥

तपः प्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४२॥

आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४३॥

हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४४॥

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है । जो हर्ष, अमर्ष, भय, काम, क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥४२-४५॥

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४६॥

अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४७॥

संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४८॥

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४९॥

मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५०॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित्(सज्ञानयुक्त)स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है, उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं॥४६-५०॥

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५१॥

येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५२॥

यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५३॥

कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च ।
सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५४॥

जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५५॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५६॥

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५७॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर

हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपरे, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥५१-५६॥

सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५८॥

जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५९॥

न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति ।
भुङ्क्ते यः प्रकृतान्भोगान्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ६०॥

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ६१॥

यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ६२॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णत: त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईष्र्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥५७-६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ६३॥

विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥ ६४॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश

विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है। और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता॥६३-६४॥

ततः स्तिमितगंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ ६५॥

न शून्यं नापि चाकारो न दृश्यं नापि दर्शनम् ।
न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम् ॥ ६६॥

किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः ।
न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च ॥ ६७॥

चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ ६८॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर

होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण – प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है॥६५-६८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम् ।
नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ॥ ६९॥

स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते ॥ ७०॥

तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥ ७१॥

प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
स्वरूपे तपसि ब्रह्मन्मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥ ७२॥

अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः ।
शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी सम्पूर्णकेवलः ॥ ७३॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है । हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान

को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तपःस्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी ! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्तः में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं॥६९-७३॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि ।
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ॥ ७४॥

जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम् ॥ ७५॥

तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यग्निहदीपवत् ॥ ७६॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवांबुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥ ७७॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक, भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित

होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त, शुद्ध स्वरूप, पवित्र, निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए, जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं॥७४-७७॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २॥

॥ द्वितीय अध्याय समात ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

॥ महा उपनिषद॥

तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः ।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम् ॥ १॥

सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः ।
स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥ २॥

सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः ।
प्रादुर्भूतोमनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ३॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए। उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा- हे पिताजी ! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्त:करण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं॥१-३॥

जायते म्रियते लोको म्रियते जननाय च ।
अस्थिरः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ।
सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः ॥ ४॥

अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः ।
शुष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया ॥ ५॥

भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ।
शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥ ६॥

चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे ।
सम्प्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥ ७॥

इयमस्मि स्थितोदारा संसारे परिपेलवा ।
श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा ॥ ८॥

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् ।
उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥ ९॥

विषयाशी विषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥ १०॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए, पुनः मरता है जन्मने के लिए । समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है। ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं। ये सभी पदार्थ

लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं। जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं। अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है। ये ऐश्वर्य रूपी धन- जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं। स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी परम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूंदरूप में लटकती हैं, वह क्षणिक है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूंद के सदृश क्षणभंगुर है। इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा। जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है॥४-१०॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥ ११॥

प्राप्यं सम्प्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १२॥

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥ १३॥

जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १४॥

भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥ १५॥

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता । जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका.मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है। इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुन: आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है। इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है। राग-द्वेष में लिप्त मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है॥११-१५॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः ।
अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः ॥ १६॥

अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम् ।
तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥ १७॥

इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति ।
मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥ १८॥

क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना ।
वशः कौलेयकेनेव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १९॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २०॥

चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ २१॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है। इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है। अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे। अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है। वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है। यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र

दौड़ता रहता है। व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है। इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है। मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था। हे ब्रह्मन्! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ । हे ब्रह्मन् ! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है। यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है। चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है। अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए॥१६-२१॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम् ।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥ २२॥

पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २३॥

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभस्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥ २४॥

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ २५॥

तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज ।
स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम् ॥ २६॥

हे श्रेष्ठ मुने! मैं जिन श्रेष्ठ सद्गुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है। यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँघने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती। क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है। यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दु:खों में दीर्घ काल तक दु:ख देने वाली है, जो अन्त:पुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है। यह तृष्णा एक महामारीहैजा है। इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है। यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दु:ख की प्राप्ति होती है। २२-२६॥

नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ॥ २७॥

कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम ॥ २८॥

पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम् ।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २९॥

जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३०॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं। इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है। यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है। जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भृत्यों का समावेश है। ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं। ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है॥२७-३०॥

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥ ३१॥

तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥ ३२॥

शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।

जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥ ३३॥

स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा ।
बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥ ३४॥

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम् ॥ ३५॥

दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा ।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥ ३६॥

हे मुनीश्वर! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई? यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है। बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अत: यह बाल्यावस्था भय का ही घर है। युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है । वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है॥३१-३६॥

क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना ।
आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति ॥ ३७॥

तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम् ।
आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः ।
कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम् ॥ ३८॥

इस नश्वर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रजःकण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं॥३७-३८॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेअङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥ ३९॥

त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने ।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ४०॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ ४१॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ ४२॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ४३॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्नायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है? हे मुने! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लसित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुशोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुत्ते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दुःख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं॥३९-४३॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ ४४॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ ४५॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥ ४६॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्भिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ ४७॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ ४८॥

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दुःखदायी ईंधनस्वरूपा हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुत: रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डिका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दुःखों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर

जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥ ४९॥

शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोऽप्यध्रुवजीवनः ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ॥ ५०॥

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः ।
भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः ॥ ५१॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥ ५२॥

आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पदः ।
क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत् ॥ ५३॥

अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम् ।
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ॥ ५४॥

जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् ।
इति मे दोषदावाग्निदग्धे सम्प्रति चेतसि ॥ ५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद

बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभवसम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अतः इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि ।
अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो ॥ ५६॥

नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः ।
भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥ ५७॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अत: हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूंगा॥५६-५७॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

॥ महा उपनिषद॥

चतुर्थोऽध्यायः चतुर्थ अध्याय

निदाघ तव नास्तन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ।
प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया ।
चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥ १॥

मोक्षद्वारे द्वारपालश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २॥

एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत् ।
एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥ ३॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा- हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है। तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञाबुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो। फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूंगा। शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं। यदि

इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं॥१-३॥

शास्त्रैः सज्जनसम्पर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः ।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत् ॥ ४॥

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता ।
यस्याभ्यासेन तेनात्म सततं चावलोक्यते ॥ ५॥

सर्वप्रथम इस नश्वर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए॥४-५॥

संकल्पाशानुसन्धानवर्जनं चेत्प्रतिक्षणम् ।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम् ॥ ६॥

चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम् ।
तदेव केवलीभावं साशुभा निर्वृतिः परा ॥ ७॥

चेतसा सम्परित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् ।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः ॥ ८॥

सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम् ।

सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टि-
र्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥ १०॥

नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगत्क्रियाम् ।
आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ ११॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी। जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है। यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है। इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गैंगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है। सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है। आत्मबोध में बाधास्वरूप है। जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता हैतत्त्वत: वही प्रणवरूप है। यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद्-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है। अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो । सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो। ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं॥६-११॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः ।
प्रोक्तः समाधिशब्देन नतु तूष्णीमवस्थितिः ॥ १२॥

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥ १३॥

अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥ १४॥

ते द्वे ब्रह्मणि विन्देति कर्तृताकर्तृते मुने ।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥ १५॥

तस्मान्नित्यमकर्ताहमिति भावनयेद्धया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ १६॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश है। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अत: हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ।'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ',

ऐसी भावना करने पर केवल परमअमृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है॥१२-१६॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः ।
ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः स्व इवेन्दवः ॥ १७॥

नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा ।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥ १८॥

आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः ।
समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः ॥ १९॥

अब्धिवद्धतमर्याद भवति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ २०॥

अतः हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उन्नतिशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वतः अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी

वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं॥१७-२०॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम् ।
प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सहसाधुना ॥ २१॥

नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत् ।
द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया ॥ २२॥

शरीरमस्थिमांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम् ।
भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत् ॥ २३॥

उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम् ।
यदेतन्मनसो रूपं तद्ग्राह्यं विद्धि नेतरत् ॥ २४॥

गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने ।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः ॥ २५॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?"यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में

पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए॥२१-२५॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यमग्निना
दाहो हिमसेचनमिवाङ्गारवर्तनं चन्दनचर्चेव
निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारा-
गृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरच्छेदः सुखनिद्रेव
मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्यं महानुपचय इवेदं
नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति ॥

गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया ।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥ २६॥

ऐसी अवस्था में खड्ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव, शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना, चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्मी को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर)गूंगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान;बधिर हो जाना,

उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्तः अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्तः की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है॥२६॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय ॥ २७॥

न धनान्यपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः ।
केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम् ॥ २८॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती, ऐसी भावना करनी चाहिए । मनुष्य का उपकार न धन से, न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है॥२७-२८॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः ।
शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥ २९॥

मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ ३०॥

न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च ।
न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः ॥ ३१॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥ ३२॥

तुषारकरबिंबाच्छं मनो यस्य निराकुलम् ।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥ ३३॥

तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥ ३४॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दुःख, तृष्णायें एवं दुःसह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दुःख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव

तथा युद्ध में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में, याज्ञिकों में, राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है॥२९-३४॥

सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥ ३५॥

अप्राप्तं हि परित्यज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥ ३६॥

नाभिनन्दत्यसम्प्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम् ।
यः स सौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥ ३७॥

रमते धीर्यताप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी ॥ ३८॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए महापद (परमात्मपद) को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त न होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (हर्ष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दुःख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है । जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा

जाता है। अन्त:पुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पत्नी प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानंद प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है॥३५-३८॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् ।
यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ।
तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि ॥ ३९॥

तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः ॥ ४०॥

नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्दर इवाम्बोधिः स तिष्ठति यथास्थितः ॥ ४१॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सद्गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है॥३९-४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तवात्मकम् ।
भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम् ॥ ४२॥

एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते ॥ ४३॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है, तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है॥४२-४३॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ ४४॥

ऋतमात्मा परंब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः ॥ ४५॥

यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा ॥ ४६॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत

(आदिकारण) रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥४४-४६॥

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते ।
द्रष्टुदृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते ॥ ४७॥

द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ।
जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ॥ ४८॥

मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते ।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ ४९॥

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥४७-४९॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा ।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥ ५०॥

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥ ५१॥

संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तन्न विद्यते ।
यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ॥ ५२॥

संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित् ।
संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥ ५३॥

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अत: दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्त:करण में कहीं पर भी यह मन सद्रूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥५०-५३॥

अहं त्वं जगतित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ॥ ५४॥

महाप्रलयसम्पत्तौ ह्यसत्तां समुपागते ।
अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ॥ ५५॥

अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ ५६॥

यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः ॥ ५७॥

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मारूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाशक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥५४-५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥ ५८॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ ५९॥

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥ ६०॥

उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी ।
आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥ ६१॥

दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥ ६२॥

दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम् ।
तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ६३॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश-ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है । हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है- ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे । चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत

होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्त:करण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है॥५८-६३॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे ॥ ६४॥

पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
निदाघ विद्धि तादृक्त्वं जगतेतद्भ्रमात्मकम् ॥ ६५॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐरावत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अतः हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए॥६४-६५॥

चित्तमेव हि संसारो रोगादिक्लेशदूषितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ ६६॥

मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥ ६७॥

कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६८॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ ६९॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अत: मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्चरित्रता से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता॥६६-६९॥

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥ ७०॥

परात्परं यन्महतो महान्तं
स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ।
कविं पुराणं पुरुषं सनातनं
सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥ ७१॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥ ७२॥

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिङ्घन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम, तेजःस्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ- ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है । बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है-ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥७०-७२॥

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥ ७३॥

त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ ७४॥

तस्मान्मुमुक्षिभिर्नैव मतिर्जीविशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥ ७५॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अत: जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥ ७६॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ७७॥

उत्पन्नशक्तिर्बोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥ ७८॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नत्र संशयः ॥ ७९॥

सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।

अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्दह्वत् ॥ ८०॥

प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्याऽमृतो भवेत् ॥ ८१॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८२॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दुःसाध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिक शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अत: ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्यकारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठे खुल जाती हैं, सभी

संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥७६-८२॥

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारौ जगत्स्थितौ ।
एकनिष्ठतयान्तस्थः संविन्मात्रपरो भव ॥ ८३॥

मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् ।
जगत्लयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥ ८४॥

लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ८५॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥ ८६॥

सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत् ।
संयमासंयमाभ्यां च संसारं शान्तिमन्वगात् ॥ ८७॥

हे पुत्र निदाघ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्त: में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो। जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए। जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं

साक्षात् शिवरूप है। इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है। नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है। यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है। संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये सभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं॥८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते ।
यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते ॥ ८८॥

स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम् ।
यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम् ॥ ८९॥

स्वपौरुषेकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥ ९०॥

असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा ।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ९१॥

भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया ।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥ ९२॥

हे निदाघ मुने! मैं तुम्हारे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-

प्राप्ति का साधन है। जिसके लिए अभिलषित सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है। अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है। सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ॥८८-९२॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम् ।
ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया ॥ ९३॥

मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः ॥ ९४॥

अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः ।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते ॥ ९५॥

छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते ।
वातेन कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः ॥ ९६॥

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥ ९७॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सविचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती । केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अतः तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥९३-९७॥

असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे ।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठवष्टब्धतत्पदः ॥ ९८॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते ।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥ ९९॥

एषा हि चञ्चलास्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता ।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडंबरात्मिकाम् ॥ १००॥

यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते ।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥ १०१॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्मी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वहीं अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सविचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥९८-१०१॥

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका ।
वासनापरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ १०२॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नैव पदे मनः ।
योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥ १०३॥

अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा ।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥ १०४॥

मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे ।

अराजकः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि ॥ १०५॥

तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम् ।
आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः ॥ १०६॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो । विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भंवरों के जाल में फंसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने ! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥१०२-१०६॥

मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम् ।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥ १०७॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ १०८॥

भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्या निर्विकल्पः सुखी भव ॥ १०९॥

एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च ।
यत्तत्संवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम् ॥ ११०॥

जब-जब अन्त:करण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो, उसके पश्चात् भाव-अभाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है।मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दु:ख है। जो प्रज्ञा से रहित है, उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते॥१०७-११०॥

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १११॥

अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते ।
नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११२॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु ॥ ११३॥

अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी ॥ ११४॥

अस्याः परं प्रपश्यन्ताः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ॥ ११५॥

इस दुःखरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशिनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है, जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है॥१११-११५॥

इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ॥ ११६॥

मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनी क्षये ।
कालिका तनुतामेति चिदादित्याप्रकाशनात् ॥ ११७॥

चैतान्युपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ ११८॥

सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते न हि काचन ॥ ११९॥

न जायते न म्रियत्ते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ १२०॥

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ १२१॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिङ्घनस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु । ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही

स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है॥११६-१२१॥

तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे ।
शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥ १२२॥

यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति ।
चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं माननान्मन उच्यते ।
अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति ॥ १२३॥

नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः ।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः ॥ १२४॥

कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥ १२५॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं

हूँ, अस्थि नहीं हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥१२२-१२५॥

नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥ १२६॥

नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ॥ १२७॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात् ।
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥ १२८॥

मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम ।
इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति ॥ १२९॥

मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम् ।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥ १३०॥

कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः ।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥ १३१॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्न से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ"मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-

भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं । तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दु:ख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्चर्य है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्चर्य की बात है। कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुषुप्तावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं॥१२६-१३१॥

अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना ॥ १३२॥

अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमान या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ॥ १३३॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४॥

॥ चतुर्थ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

॥ महा उपनिषद॥

पंचमोऽध्यायः पांचवां अध्याय

ऋभुः ॥ अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम् ।
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥ १॥

पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः ।
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥ २॥

शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः ॥ ३॥

यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चेत्यार्थे चिति मज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥ ४॥

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः ।
सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥ ५॥

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ६॥

अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता ।
अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥ ७॥

पुन: महर्षि ऋभु ने कहा-हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो । अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते । आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का डूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे ध्वस्तमनन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है॥१-७॥

बीजं जाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च ।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम् ॥ ८॥

इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम् ।
श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं श्रुणु लक्षणमस्य तु ॥ ९॥

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुषुप्तावस्था । तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें॥८-९॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः ।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥ १०॥

बीजरूपस्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते ।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वजाग्रत्संस्थितिं श्रुणु ॥ ११॥

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है, जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली, चित्तजीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें॥१०-११॥

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ।
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ १२॥

अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥ १३॥

अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥ १४॥

द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः ।
अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्तत्स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥ १५॥

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी।'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरूढ़) अथवा प्रचलित (रूढ़) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् । अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं॥१२-१५॥

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि ।
परामर्षः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥ १६॥

चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः ।
चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः ॥ १७॥

स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत् ।
षडवस्था परित्यागो जडा जीवस्य या स्थितिः ॥ १८॥

भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्तिः सोच्यते गतिः ।
जगत्तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते ॥ १९॥

'स्वप्नावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत् अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलापों द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है॥१६-१९॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज ।
एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी ॥ २०॥

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ॥ २१॥

हे ब्रह्मन् ! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप

पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क में नहीं फँसता॥२०-२१॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ २२॥

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासप्तकात्परम् ॥ २३॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है॥२२-२३॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥ २४॥

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ २५॥

आसामन्तस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं श्रुणु ॥ २६॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो॥२४-२६॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ २७॥

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ २८॥

मैं भ्रमितमति क्यों हैं? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूंगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही विचारणा' नाम दिया है॥२७-२८॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥ २९॥

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ३०॥

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं॥२९-३०॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥ ३१॥

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ ३२॥

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥ ३३॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वारूढ़ होती है, वही 'असंसक्ति कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर पदार्थ भावना'नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है॥३१-३३॥

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्बनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ ३४॥

एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥ ३५॥

इन छः भूमियों के परिपक्व हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यगा' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है॥३४-३५॥

ये निदाघ महाभागाः साप्तमीं भूमिमाश्रिताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥ ३६॥

जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते ।
प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा ॥ ३७॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिप्त रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होतीं॥३६-३७॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचरक्रमागतम् ।
आचारमाचरत्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥ ३८॥

भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम् ।
प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये ॥ ३९॥

सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः ।
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता ॥ ४०॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है, वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें, तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं, इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं । हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है॥३८-४०॥

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ।
ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥ ४१॥

ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः ।
मनःप्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ॥ ४२॥

जैसे मृर्ग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है॥४१-४२॥

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः ।
एतासां भूमिकानां तु गमं ब्रह्माभिधं पदम् ॥ ४३॥

त्वत्ताहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन ।
न क्वचिद्भावकलना न भावाभाव गोचरा ॥ ४४॥

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम् ।
अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥ ४५॥

न सन्नसन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम् ॥ ४६॥

असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् ।
सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥ ४७॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है-ब्रह्मपद की प्राप्ति । जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत्, न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्रीह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतिरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी

पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है॥४३-४७॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः ।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम् ॥ ४८॥

देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वओउः ।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥ ४९॥

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् ।
अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५०॥

जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत् ।
अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा ।
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥ ५१॥

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम् ।
शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम्
॥ ५२॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उसे जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़चेतन

विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो । चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है॥४८-५२॥

संकल्पसंक्षयद्गलिते तु चित्ते संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति ।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः
॥ ५३॥

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छैट जाता है। ऐसे में शरद्ऋतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है॥५३॥

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् ।
अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४॥

साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।
निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥ ५५॥

बिना कर्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं॥५४-५५॥

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥ ५६॥

रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला ।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम् ॥ ५७॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डित ब्रह्म एक है, चित्त की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिंची होती हैं॥५६-५७॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत् ।
ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ॥ ५८॥

विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन ।
पश्य विश्रान्तसन्देहं विगताशेषकौतुकम् ॥ ५९॥

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सींग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस

प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसा समझो॥५८-५९॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम् ।
त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः ॥ ६०॥

महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ।
जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ॥ ६१॥

मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः ।
दृश्यं सन्त्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ॥ ६२॥

द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः ।
विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ॥ ६३॥

सुप्तस्य धनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ।
अत्यन्तपक्कवैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ॥ ६४॥

संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥ ६५॥

कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।

तथा विज्ञानवशतः स्वभावः सम्प्रसीदति ॥ ६६॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्त्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवनयापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कर चुका है और हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है॥६०-६६॥

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्जरादिव ॥ ६७॥

शान्तसन्देहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥ ६८॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है॥६७-६८॥

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम् ।
इत्थं सदस्तोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति ॥ ६९॥

अयत्नोपतेष्वक्षिदृग्दृश्येषु यथा मनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥ ७०॥

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥ ७१॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हैं, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौर्यकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है॥६९-७१॥

अशङ्कितापि सम्प्राप्ता ग्रामयात्रा यथाध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ॥ ७२॥

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥ ७३॥

बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥ ७४॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था, ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है, उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है, वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है॥७२-७४॥

हस्तं हतेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥ ७५॥

मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे ।
महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः ॥ ७६॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है॥७५-७६॥

आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ।
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ॥ ७७॥

पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ।
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥ ७८॥

भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात् ।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥ ७९॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट

सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है॥७७-७९॥

लालनात्स्निग्धललना पालानात्पालकः पिता ।
सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः ॥ ८०॥

स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः ।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता ॥ ८१॥

सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः ।
स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥ ८२॥

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपङ्ककलङ्कितम् ।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव ॥ ८३॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हृष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सद्गुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें॥८०-८३॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च ।
इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥ ८४॥

सद्विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे॥८४॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः ॥ ८५॥

वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते ।
सा प्रसिद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥ ८६॥

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि ।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥ ८७॥

परमं पौरुषं यत्नमास्थादाय सृद्यमम् ।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक् ॥ ८८॥

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशाअपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के

बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता?॥८५-८८॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः ।
नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहङ्कृतिः ॥ ८९॥

सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति या संविदो ब्रह्मन्द्वितीयाहङ्कृतिः शुभा ॥ ९०॥

मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥ ९१॥

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है। मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ, मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं। ८९-९१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः ।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लैकिकस्तुच्छ एव सः ॥ ९२॥

जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः ।
अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ॥ ९३॥

अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तया चिरम् ।
शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुः शमवान्याति मुक्तताम् ॥ ९४॥

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताड़ित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचित्त होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं॥९२-९४॥

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ ।
तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥ ९५॥

अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः ।
स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति ॥ ९६॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दुःखप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है॥९५-९६॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ।
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ॥ ९७॥

ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ।
नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम् ।
न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः ॥ ९८॥

यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते ।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥ ९९॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता॥९७-९९॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता ।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥ १००॥

आकाशशतभागाण्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी ।
सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥ १०१॥

नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति ।

न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित् ॥ १०२॥

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है । वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है॥१००-१०२॥

सैषा चियमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा ॥ १०३॥

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥ १०४॥

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥ १०५॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्त: का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है॥१०३-१०५॥

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः ॥ १०६॥

सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः ।
सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा ॥ १०७॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है॥१०६-१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः ।
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधवितोदये ॥ १०८॥

यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम् ।
अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया ॥ १०९॥

विद्या सम्प्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी ।
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम् ॥ ११०॥

शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः ।
ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ॥ १११॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा । हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है॥१०८-१११॥

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति ।
नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया ॥ ११२॥

सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा ।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥ ११३॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहींसब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है॥११२-११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते ।
कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा ॥ ११४॥

इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा ।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम् ॥ ११५॥

यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम् ।
तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ॥ ११६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूं? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए॥११४-११६॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति ।
स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः ॥ ११७॥

एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम् ।
किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे॥ ११८॥

तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे ।

आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः ॥ ११९॥

तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ।
क्षणं स्फुरति सा देवी सर्वशक्तितया तथा ॥ १२०॥

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म – स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है।॥११७-१२०॥

देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः सम्प्रकर्षणे ।
स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ॥ १२१॥

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥१२१॥

रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता ।
यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ॥ १२२॥

तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः ।
विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम् ॥ १२३॥

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥१२२-१२३॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन्क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ।
वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ॥ १२४॥

अहङ्कारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते ।
बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम् ॥ १२५॥

हे ब्रह्मन् ! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुन: वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलाता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥१२४-१२५॥

मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः ।
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥ १२६॥

मन के गहरे विकल्प में डूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥१२६॥

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः ।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम् ॥ १२७॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम् ।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥ १२८॥

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥१२७-१२८॥

स्वयं कल्पित तन्मात्राजालभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥ १२९॥

चित्रशक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥१२९॥

क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रिया ।
क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम् ॥ १३०॥

क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम् ।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्मृतम् ॥ १३१॥

क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित्पुर्यष्टकं स्मृतम् ।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम् ॥ १३२॥

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है॥१३०-१३२॥

इअमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम् ।
दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥ १३३॥

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है॥१३३॥

चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥ १३४॥

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दग्ध हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भंवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है॥१३४॥

समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात् ।
एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः ॥ १३५॥

ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ।
संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ॥ १३६॥

उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात् ।
केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ॥ १३७॥

केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः ।
केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥ १३८॥

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं॥१३५-१३८॥

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः ।
केचिद्ब्रह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥ १३९॥

केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः ।
केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः ॥ १४०॥

केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः ।
केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ॥ १४१॥

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नींबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं॥१३९-१४१॥

केचिद्विशालाः कुकुभः केचिन्नद्यो महारयाः ।
विहायस्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥ १४२॥

कन्तुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः ।
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ॥ १४३॥

पतन्ति केचिदबुधाः सम्प्राप्यापि विवेकताम् ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ॥ १४४॥

लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ।
तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम् ॥ १४५॥

मनः सम्पद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् ।

कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात् ॥ १४६॥

आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम् ।
ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः ॥ १४७॥

भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् ।
ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः ॥ १४८॥

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं। कुछ ऊपर उठते हैं, कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिरानेउछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है, तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मन:शक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥१४२-१४८॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः ।
रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम् ॥ १४९॥

मनस्ताद्दृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् ।
क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥ १५०॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥१४९-१५०॥

ततस्ताद्दग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् ।
गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत् ॥ १५१॥

अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत् ।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥ १५२॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है । इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ल में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥१५१-१५२॥

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥ १५३॥

तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः ।
स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥ १५४॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णावस्था) की स्थिति में बिल्वफल की। तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥१५३-१५४॥

मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे ।
संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥ १५५॥

ऊर्ध्वं शिरःपिण्डमयमधः पादमयं तथा ।
पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम् ॥ १५६॥

कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम् ।
बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ॥ १५७॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पार्थों में भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय आने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता

है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम् ॥ १५८॥

चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः ।
एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणी ॥ १५९॥

अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति ।
इति चिन्तितवान्ब्रह्मा सद्यो जातामलात्मदृक् ॥ १६०॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विरार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई॥१५८-१६०॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः ।
स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात् ॥ १६१॥

लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः ।
नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥ १६२॥

तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये ।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥ १६३॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी॥१६१-१६३॥

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः ।
तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात् ॥ १६४॥

न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन ।
परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते ॥ १६५॥

कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडंबरं त्यज ।
असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय ॥ १६६॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है।

इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है॥१६४-१६६॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा ।
अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥ १६७॥

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ १६८॥

यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः ।
तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥ १६९॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों ने दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं॥१६७-१६९॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः ।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥ १७०॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।

आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ १७१॥

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वावलंब्य च ।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ १७२॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे। अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पाण्डित्य है। सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे॥१७०-१७२॥

यस्य चेच्छा तथानिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः ।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः ॥ १७३॥

यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज ।
तदा विज्ञातविज्ञेया समुत्तीर्णो भवार्णवात् ॥ १७४॥

उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात् ।
पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु ॥ १७५॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता । हे द्विज ! यदि आपके हृदय

में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये। विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है॥१७३-१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते ।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे ॥ १७६॥

न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् ।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥ १७७॥

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः ।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः ॥ १७८॥

लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः ।
याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत् ॥ १७९॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये। सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है। वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात्

वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्ताकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं॥१७६-१७९॥

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः ।
संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव ॥ १८०॥

संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते ।
वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत् ॥ १८१॥

मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ ।
संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति ॥ १८२॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है। संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है। लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती। चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके। उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है, उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं॥१८०-१८२॥

भावनाभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम् ।
संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने ॥ १८३॥

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ।
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥ १८४॥

तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा ।
नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥ १८५॥

जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम् ।
नश्यत्येव न सन्देहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत् ॥ १८६॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले। आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है । हे विप्र! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है- इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं। अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं॥१८३-१८६॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५॥

॥ पांचवां अध्याय समाप्त ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ महोपनिषत् ॥

॥ महा उपनिषद॥

षष्ठोऽध्यायः छठा अध्याय

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिंल्लीलया विहरानघ ॥ १॥

सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ २॥

हे निष्पाप! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें। सभी जगह स्वयं को अकर्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है॥१-२॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया ।
स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥ ३॥

समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः ।
तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥ ४॥

दुःख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वत: उत्पादित हैं। अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है। सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है॥३-४॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥ ५॥

शेषस्थिरो समाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ।
चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम् ॥ ६॥

वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् ।
समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥ ७॥

हे मुने! सभी कर्तव्य तथा अकर्तव्य का त्यागकर, मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों। बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं, उसे भी छोड़ दें। चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है, वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है। अतः प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन वाले बनें॥५-७॥

हृदयात्सम्परित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ ८॥

दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश ।
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥ ९॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥ १०॥

मुक्त और शान्त वही है, जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है, वही परमेश्वर है। वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है। प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्पद (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है। शरीर के बाहर-भीतर, ऊपरनीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है, उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता॥८-१०॥

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम् ।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥ ११॥

समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम् ।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ॥ १२॥

तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः ।

न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा ॥ १३॥

हे निष्पाप! 'यह और है''मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो। मैं ऐसी कौन सी वस्तु की। कामना करूं? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है। यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है। सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है। यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है॥११-१३॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा ।
यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ॥ १४॥

त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा ।
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ॥ १५॥

विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ।
विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम् ॥ १६॥

द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः ।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे ॥ १७॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे ॥ १८॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है । अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए। किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए। हे महामते ! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही श्रेष्ठ प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है। जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिको सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं॥१४-१८॥

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः ।
प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥ १९॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं। अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं॥१९॥

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ २०॥

उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥ २१॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है। जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्नशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं। इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमजोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए॥२०-२१॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे ।
सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥ २२॥

अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः ।
शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः ॥ २३॥

सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्नरम्यता ।
सुखानां मूर्ध्निदुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ २४॥

संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है। बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा, युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त (दुःखी) होकर आखिर

अपना क्या उपकार कर सकता है? सत् के मूर्धा (सिर) पर असत् का बोलबाला है। रमणीकता के ऊपर कुरूपता चढ़ी हुई है। सुखों के ऊपर दु:ख प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूं?॥२२-२४॥

येषां निमेषणामेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।
तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥ २५॥

संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २६॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है। इस नश्वर जगत् को ही दु:खों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है?॥२५-२६॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥ २७॥

मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव ।
हेयादेयादृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ २८॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है। इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल

से चुराकर अपने वश में कर लिया है। अब मैं इसे जान गया हूँ। अतः इसको विनष्ट कर डालूंगा । हेय पदार्थों के लिए दुःखित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो। हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ॥२७-२८॥

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २९॥

धृर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ ३०॥

गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् ।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥ ३१॥

अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया ।
वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥ ३२॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं। तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक फैला दिया गया है।

हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बछी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ॥२९-३२॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् ।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३३॥

तिष्ठन्गच्छन्त्स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन् ।
असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्तां परित्यज ॥ ३४॥

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चितोऽसि बन्धवान् ।
दृश्यं सन्त्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥ ३५॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शुन्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो॥३३-३५॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः ।
आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे ॥ ३६॥

दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव ।
स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ॥ ३७॥

स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव ॥ ३८॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अडिग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वादयुक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीचबीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ॥३६-३८॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित् ।
तस्मान्निदाघ तृष्णा त्वं त्यज संकल्पवर्जनात् ॥ ३९॥

एतामहंभावमयीपपुण्यां
छित्त्वानहंभाव शलाकयैव ॥

स्वभावजां भव्यभवन्तभूमौ
भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः ॥ ४०॥

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना किंचिन्न मयैते विना किल ॥ ४१॥

इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥ ४२॥

अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तितः ॥ ४३॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो । अहंभाव से रहित इस बर्थी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो । मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हैं और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हैं और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन् ! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है॥३९-४३॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥ ४४॥

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्तव्य है। जो मनुष्य अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्यक् रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥४४-४५॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः ।
ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ४६॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो॥४६॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ ।
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ।
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर ॥ ४७॥

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ।

सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४८॥

हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः ॥ ४९॥

बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ।
सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते ॥ ५०॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्त:करण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दु:खी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है॥४७-५०॥

इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम् ।
तां तीक्ष्णां शृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम् ॥ ५१॥

तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः ॥ ५२॥

बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ।

त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ ५३॥

जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥ ५४॥

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात् ॥ ५५॥

अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥ ५६॥

जगज्जाल पदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम ॥ ५७॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दु:ख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दु:ख स्वरूपा सत् एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'पैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें । बन्धन में दु:खों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे

बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हैं। इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है॥५१-५७॥

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥ ५८॥

एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥ ५९॥

सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥ ६०॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं । हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने!'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती॥५८-६०॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥ ६१॥

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयीशक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥ ६२॥

सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ ६३॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते॥६१-६३॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥ ६४॥

सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥ ६५॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छाअनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका

है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकांक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता॥६४-६५॥

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥ ६६॥

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥ ६७॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीतिरिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो॥६६-६७॥

बहिःकृत्रिमसंरंभो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६८॥

त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६९॥

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्ता एवं अन्दर से अकर्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥६८-६९॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव ।
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ॥ ७०॥

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१॥

भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम् ।
प्रशान्तकलनारभ्यं नीरागं पदमाश्रय ॥ ७२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ।
आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति ॥ ७३॥

उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्त:करण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के

होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥७०-७३॥

वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥ ७४॥

वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम् ।
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम् ॥ ७५॥

तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ।
दिवसेदिवसे कुर्वन्प्राज्ञ कस्मान्न लज्जते ॥ ७६॥

चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते ।
चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः ॥ ७७॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सद्गुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति रोग युक्त हो

जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते ? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥७४-७७॥

एतन्निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया ।
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि ॥ ७८॥

चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ।
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान् ॥ ७९॥

नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥ ८०॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप्त अन्त:करण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥७८-८०॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम् ।
संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत् ॥ ८१॥

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलेषणः ।
निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर ॥ ८२॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ॥८१-८२॥

इति । य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते ।
अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति । अनुपनीत उपनीतो भवति ।
सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स सोमपूतो भवति ।
स सत्यपूतो भवति । स सर्वपूतो भवति । स सर्वदेवैर्ज्ञातो भवति ।
स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति ।
स सर्वक्रतुभिरिष्टवान्भवति । गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि
जप्तानि फलानि भवन्ति । इतिहासपुराणानां शतसहस्राणि जप्तानि
फलानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जप्तं भवति ।
आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति । आसप्तमान्पुरुषयुगान्पुनाति ।
इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः । जप्येनामृतत्त्वं च
गच्छतीत्युपनिषत् ।

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है। वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है। वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है। वह समस्त देवों में सुपरिचित हो

जाता है। उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है। सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन.से मिल जाता है। सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है। दस सहस्त्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है। भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥८३॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥ ६॥

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठ

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता॥

॥ महा उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥